

जैन साहित्य की प्रगति

समानशील मित्रगण !

मैं आभारविधि व लाचारी प्रदर्शन के उपचार से प्रारंभ में ही छुट्टी पा लेता हूँ। इससे हम सभी का समय बच जाएगा।

आपको यह जान कर दुःख होगा कि इसी लखनऊ शहर के श्री अजित प्रसाद जी जैन अन्न हमारे बीच नहीं रहे। उन्होंने गोम्मटसार जैसे कठिन ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। और वे जैन गजट के अनेक वर्षों तक संपादक रहे। उनका अद्भ्य उत्साह हम सब में हों ऐसी भावना के साथ उनकी आत्मा को शान्ति मिले यही प्रार्थना है। सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् श्री सागरानंद सूरि का इसी वर्ष स्वर्गवास हो गया है। उन्होंने अपनी सारी जिन्दगी अनेकविध पुस्तक प्रकाशन में लगाई। उन्हीं की एकाग्रता तथा कार्यपरायणता से आज विद्वानों को जैन साहित्य का बहुत बड़ा भाग सुलभ है। वे अपनी धुन में इतने पक्के थे कि आरंभ किया काम अकेले हाथ से पूरा करने में भी कभी नहीं हिचके। उनकी चिर-साहित्योपासना हमारे बीच विद्यमान है। हम सभी साहित्य-संशोधन प्रेमी उनके कार्य का मूल्यांकन कर सकते हैं। हम उनकी समाहित आत्मा के प्रति अपना हार्दिक आदर प्रकट करें।

जैन विभाग से सम्बद्ध विषयों पर सन् १९४१ से अभी तक चार प्रमुखों के भाषण हुए हैं। डॉ० ए. एन्. उपाध्ये का भाषण जितना विस्तृत है उतना ही अनेक मुद्दों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालने वाला है। उन्होंने प्राकृत भाषा का सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से तथा शुद्ध भाषातत्त्व के अभ्यास की दृष्टि से क्या स्थान है इसकी गंभीर व विस्तृत चर्चा की है। मैं इस विषय में अधिक न कह कर केवल इससे संबद्ध एक मुद्दे पर चर्चा करूँगा। वह है भाषा की पवित्रा-पवित्रता की मिथ्या भावना।

शास्त्रीय भाषाओं के अभ्यास के विषय में—

मैं शुरू में पुरानी प्रथा के अनुसार काशी में तथा अन्यत्र जब उच्च कक्षा के साहित्यिक व आलंकारिक विद्वानों के पास पढ़ता था तब अलंकार नाटक आदि में

आनेवाले प्राकृत गद्य-पद्य का उनके मुँह से वाचन सुन कर विस्मित सा हो जाता था, यह सोच कर कि इतने बड़े संस्कृत के दिग्गज पंडित प्राकृत को यथावत् पढ़ भी क्यों नहीं सकते ? विशेष अचरज तो तब होता था जब वे प्राकृत गद्य-पद्य का संस्कृत छाया के सिवाय अर्थ ही नहीं बर सकते थे । ऐसा ही अनुभव मुझको प्राकृत व पालि के पारदर्शी पर एकांगी श्रमणों के निकट भी हुआ है, जब कि उन्हें संस्कृत भाषा में लिखे हुए अपने परिचित विषय को ही पढ़ने का अवसर आता । धीरे-धीरे उस अचरज का समाधान यह हुआ कि वे पुरानी एकांगी प्रथा से पढ़े हुए हैं । पर यह त्रुटि जब यूनिवर्सिटी के अध्यापकों में भी देखी तब मेरा अचरज द्विगुणित हो गया । हम भारतीय जिन पाश्चात्य विद्वानों का अनुकरण करते हैं उनमें यह त्रुटि नहीं देखी जाती । अतएव मैं इस वैषम्य के मूल कारण की खोज करने लगा तो उस कारण का कुछ पता चल गया जिसका सूचन करना भावी सुधार की दृष्टि से अनुपयुक्त नहीं ।

जैन आगम भगवती में कहा गया है कि अर्धमागधी देवों की भाषा है ।^१ बौद्ध पिटक में भी बुद्ध के मुख से कहलाया गया है कि बुद्धवचन को प्रत्येक देश के लोग अपनी-अपनी भाषा में कहें^२, उसे संस्कृतबद्ध करके सीमित करने की आवश्यकता नहीं । इसी तरह पतंजलि ने महाभाष्य में संस्कृत शब्दानुशासन के प्रयोजनों को दिखाते हुए कहा कि 'न म्लेच्छितवै नापभाषितवै'^३ अर्थात् ब्राह्मण अपभ्रंश का प्रयोग न करे । इन सभी कथनों से आपाततः ऐसा जान पड़ता है कि मानों जैन व बौद्ध प्राकृतभाषा को देववाणी मान कर संस्कृत का तिरस्कार करते हैं या महाभाष्यकार संस्कृतेतर भाषा को अप-भाषा कह कर तिरस्कृत करते हैं । पर जब आगे पीछे के संदर्भ व विवरण तथा तत्कालीन प्रथा के आधार पर उन कथनों की गहरी जाँच की तो स्पष्ट प्रतीत हुआ कि उस जमाने में भाषाद्वेष का प्रश्न नहीं था किन्तु अपने शास्त्र की भाषा की संस्कार शुद्धि की रक्षा करना, इसी उद्देश्य से शास्त्रकार चर्चा करते थे । इस सत्य की प्रतीति तब होती है जब हम भर्तृहरि को 'वाक्यपदीय' में साधु-असाधु शब्दों के प्रयोग की चर्चा-प्रसंग में अपभ्रंश व असाधु कहे जानेवाले

१. भगवती श० ५, उ० ४ । प्रज्ञापना-प्रथमपद में मागधी को आर्य भाषा कहा है ।

२. सुल्लवग्ग-खुद्दक-वत्थुलन्ध-बुद्धवचननिरुत्ति ।

३. महाभाष्य पृ० ४६ ।

शब्दों को भी अपने वर्तुल में सांघु बतलाते हुए पाते हैं।^१ इसी प्रकार जंब आचार्य आर्यरक्षित 'अनुयोगद्वार में'^२ संस्कृत-प्राकृत दोनों उक्तियों को प्रशस्त बतलाते हैं, व वाचक उमास्वाति आर्यभाषा रूप से किसी एक भाषा का निर्देश न करके केवल इतना ही कहते हैं कि जो भाषा स्पष्ट और शुद्ध रूप से उच्चारित हो और लोक संव्यवहार साध सके वह आर्य भाषा,^३ तब हमें कोई संदेह नहीं रहता कि अपने-अपने शास्त्र की मुख्य भाषा की शुद्धि की रक्षा की ओर ही तात्कालिक परंपरागत विद्वानों का लक्ष्य था।

पर उस सांप्रदायिक एकांगी आत्मरक्षा की दृष्टि में धीरे-धीरे ऊँच-नीच भाव के अभिमान का विष दाखिल हो रहा था। हम इसकी प्रतीति सातवीं शताब्दी के आसपास के ग्रन्थों में स्पष्ट पाते हैं।^४ फिर तो भोजन, विवाह, व्यवसाय आदि व्यवहार क्षेत्र में जैसे ऊँच-नीच भाव का विष फैला वैसे ही शास्त्रीय भाषाओं के वर्तुल में भी फैला। अलंकार, काव्य, नाटक आदि के अभ्यासी विद्यार्थी व पंडित उनमें आने वाले प्राकृत भागों को छोड़ तो सकते न थे, पर वे विधिवत् आदर-पूर्वक अध्ययन करने के संस्कार से भी वंचित थे। इसका फल यह हुआ कि बड़े-बड़े प्रकाण्ड गिने जाने वाले संस्कृत के दार्शनिक व साहित्यिक विद्वानों ने अपने विषय से संबद्ध प्राकृत व पालि साहित्य को छुआ तक नहीं। यही स्थिति पालि पिटक के एकांगी अभ्यासियों की भी रही। उन्होंने भी अपने-अपने विषय से संबद्ध महत्वपूर्ण संस्कृत साहित्य की यहाँ तक उपेक्षा की कि अपनी ही परंपरा में बने हुए संस्कृत वाङ्मय से भी वे बिलकुल अनजान रहे।^५ इस विषय में जैन परंपरा की स्थिति उदार रही है, क्योंकि आ० आर्यरक्षित ने तो संस्कृत-प्राकृत दोनों का समान रूप से मूल्य आँका है। परिणाम यह है कि वाचक उमास्वाति के समय से आज तक के लगभग १५०० वर्ष के जैन विद्वान संस्कृत और प्राकृत वाङ्मय का तुल्य आदर करते आए हैं। और सब विषय के साहित्य का निर्माण भी दोनों भाषाओं में करते आए हैं।

इस एकांगी अभ्यास का परिणाम तीन रूपों में हमारे सामने है। पहला

१. वाक्यपदीय प्रथम काण्ड, का० २४८-२५६।

२. अनुयोगद्वार पृ० १३१।

३. तत्त्वार्थभाष्य ३. १५।

४. 'असाधुशब्दभूयिष्ठाः शाक्य-जैनागमादयः' इत्यादि, तंत्रवार्तिक पृ० २३७

५. उदाहरणार्थ-सीलोन, वर्मा आदि के भिक्खू महायान के संस्कृत ग्रन्थों से अछूते हैं।

तो यह कि एकांगी अभ्यासी अपने सांप्रदायिक मन्तव्य का कभी-कभी यथावत् निरूपण ही नहीं कर पाता। दूसरा यह कि वह अन्य मत की समीक्षा अनेक बार गलत धारणाओं के आधार पर करता है। तीसरा रूप यह है कि एकांगी अभ्यास के कारण संबद्ध विषयों व ग्रन्थों के अज्ञान से ग्रन्थगत पाठ ही अनेक बार गलत हो जाते हैं। इसी तीसरे प्रकार की ओर प्रो० विद्युशेखर शास्त्री ने ध्यान खींचते हुए कहा है कि 'प्राकृत भाषाओं के अज्ञान तथा उनकी उपेक्षा के कारण 'वैष्णो संहार' में कितने ही पाठों की अव्यवस्था हुई है'^१। पंडित बेचरदासजी ने 'गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति' में (पृ० १०० टि० ६२ में) शिवराम म० प्रांजपे संपादित 'प्रतिमा नाटक' का उदाहरण देकर वही बात कही है। राजशेखर की 'कर्पूर मंजरी' के टीकाकार ने अशुद्ध पाठ को ठीक समझ कर ही उसकी टीका की है। डा० ए. एन. उपाध्ये ने भी अपने वक्तव्य में प्राकृत भाषाओं के यथावत् ज्ञान न होने के कारण संपादकों व टीकाकारों के द्वारा हुई अनेकविध भ्रान्तियों का निदर्शन किया है।

विश्वविद्यालय के नए युग के साथ ही भारतीय विद्वानों में भी संशोधन की तथा व्यापक अध्ययन की महत्त्वाकांक्षा व रुचि जगी। वे भी अपने पुरोगामी पश्चात्य गुरुओं की दृष्टि का अनुसरण करने की ओर मुझे व अपने देश की प्राचीन प्रथा को एकांगिता के दोष से मुक्त करने का मनोरथ व प्रयत्न करने लगे। पर अधिकतर ऐसा देखा जाता है कि उनका मनोरथ व प्रयत्न अभी तक सिद्ध नहीं हुआ। कारण स्पष्ट है। कॉलेज व यूनिवर्सिटी की उपाधि लेकर नई दृष्टि से काम करने के निमित्त आए हुए विश्वविद्यालय के अधिकांश अध्यापकों में वही पुराना एकांगी संस्कार काम कर रहा है। अतएव ऐसे अध्यापक मुँह से तो असांप्रदायिक व व्यापक तुलनात्मक अध्ययन की बात करते हैं पर उनका हृदय उतना उदार नहीं है। इससे हम विश्वविद्यालय के वर्तुल में एक विसंवादी चित्र पाते हैं। फलतः विद्यार्थियों का नया जगत् भी समीचीन दृष्टिलाल न होने से दुविधा में ही अपने अभ्यास को एकांगी व विकृत बना रहा है।

हमने विश्वविद्यालय के द्वारा पश्चात्य विद्वानों की तटस्थ समालोचना मूलक प्रतिष्ठा प्राप्त करनी चाही पर हम भारतीय अभी तक अधिकांश में उससे वंचित ही रहे हैं। वेबर, मेक्समूलर, गायगर, लोयमन, पिशाल, जेकोबी, ओल्ड-नबर्ग, शार्पेन्टर, सिल्वन लेवी आदि गत युग के तथा डॉ० थॉमस, बेईली, बरो शुब्रिंग, आल्सडोर्फ, रेनु आदि वर्तमान युग के संशोधक विद्वान् आज भी

१. 'पालि प्रकाश' प्रवेशक पृ० १८, टि० ४२।

संशोधनक्षेत्र में भारतीयों की अपेक्षा ऊँचा स्थान रखते हैं। इसका कारण क्या है इस पर हमें यथार्थ विचार करना चाहिए। पाश्चात्य विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम सत्यशोधक वैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर रखा जाता है। इससे वहाँ के विद्वान् सर्वांगीण दृष्टि से भाषाओं तथा इतर विषयों का अध्ययन करते करते हैं। वे हमारे देश की रूढ़प्रथा के अनुसार केवल सांप्रदायिक व संकुचित दायरे में बद्ध होकर न तो भाषाओं का एकांगी अध्ययन करते हैं और न इतर विषयों का ही। अतएव वे कार्यकाल में किसी एक ही क्षेत्र को क्यों न अपनाएँ पर उनकी दृष्टि व कार्यपद्धति सर्वांगीण होती है। वे अपने संशोधन क्षेत्र में सत्यलक्ष्मी ही रह कर प्रयत्न करते हैं। हम भारतीय संस्कृति की अखण्डता व महत्ता की डींग हॉकें और हमारा अध्ययन-अध्यापन व संशोधन विषयक दृष्टिकोण खंडित व एकांगी हो तो सचमुच हम अपने आप ही अपनी संस्कृति को खंडित व विकृत कर रहे हैं।

एम० ए०, डॉक्टरेट जैसी उच्च उपाधि लेकर संस्कृत साहित्य पढ़ाने वाले अनेक अध्यापकों को आप देखेंगे कि वे पुराने एकांगी पंडितों की तरह ही प्राकृत का न तो सीधा अर्थ कर सकते हैं, न उसकी शुद्धि-अशुद्धि पहचानते हैं, और न छाया के सिवाय प्राकृत का अर्थ भी समझ सकते हैं। यही दशा प्राकृत के उच्च उपाधिधारकों की है। वे पाठ्यक्रम में नियत प्राकृतसाहित्य को पढ़ाते हैं तत्र अधिकांश में अंग्रेजी भाषान्तर का आश्रय लेते हैं, या अपेक्षित व पूरक संस्कृत ज्ञान के अभाव के कारण किसी तरह कच्चा की गाड़ी खींचते हैं। इससे भी अधिक दुर्दशा तो 'एन्श्यन्ट इन्डियन हिस्ट्री एन्ड कल्चर' के क्षेत्र में कार्य करने वालों की है। इस क्षेत्र में काम करनेवाले अधिकांश अध्यापक भी प्राकृत-शिलालेख, सिक्के आदि पुरातत्वीय सामग्री का उपयोग अंग्रेजी भाषान्तर द्वारा ही करते हैं। वे सीधे तौर से प्राकृत भाषाओं के न तो मर्म को पकड़ते हैं और न उन्हें यथावत् पढ़ ही पाते हैं। इसी तरह वे संस्कृत भाषा के आवश्यक बोध से भी वंचित होने के कारण अंग्रेजी भाषान्तर पर निर्भर रहते हैं। यह कितने दुःख व लज्जा की बात है कि पाश्चात्य संशोधक विद्वान् अपने इस विषय के संशोधन व प्रकाशन के लिए अपेक्षित सभी भाषाओं का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने की पूरी चेष्टा करते हैं तब हम भारतीय घर की निजी सुलभ सामग्री का भी पूरा उपयोग नहीं कर पाते।

इस स्थिति में तत्काल परिवर्तन करने की दृष्टि से अखिल भारतीय प्राच्य विद्वत्परिषद् को विचार करना चाहिए। मेरी राय में उसका कर्तव्य इस विषय में

विशेष महत्त्व का है। वह सभी भारतीय विश्वविद्यालयों को एक प्रस्ताव के द्वारा अपना सुमंगल पेश कर सकती है जो इस मतलब का हो—

“कोई भी संस्कृत भाषा का अध्यापक ऐसा नियुक्त न किया जाए जिसने प्राकृत भाषाओं का कम से कम भाषादृष्टि से अध्ययन न किया हो। इसी तरह कोई भी प्राकृत व पालि भाषा का अध्यापक ऐसा नियुक्त न हो जिसने संस्कृत भाषा का अपेक्षित प्रामाणिक अध्ययन न किया हो।”

इसी तरह प्रस्ताव में पाठ्यक्रम संबन्धी भी सूचना हो वह इस मतलब की कि—

“कॉलेज के स्नातक तक के भाषा विषयक अभ्यास क्रम में संस्कृत व प्राकृत दोनों का साथ-साथ तुल्य स्थान रहे, जिससे एक भाषा का ज्ञान दूसरी भाषा के ज्ञान के बिना अधूरा न रहे। स्नातक के विशिष्ट (ग्रानर्स) अभ्यास क्रम में तो संस्कृत, प्राकृत व पालि भाषाओं के सह अध्ययन की पूरी व्यवस्था करनी चाहिए। जिससे विद्यार्थी आगे के किसी कार्यक्षेत्र में परावल्म्वी न बने।”

उक्त तीनों भाषाओं एवं उनके साहित्य का तुलनात्मक व कार्यक्षम अध्ययन होने से स्वयं अध्येता व अध्यापक दोनों का लाभ है। भारतीय संस्कृति का यथार्थ निरूपण भी संभव है और आधुनिक संस्कृत-प्राकृत मूलक सभी भाषाओं के विकास की दृष्टि से भी वैसा अध्ययन बहुत उपकारक है।

उल्लेख योग्य दो प्रवृत्तियाँ—

डॉ० उपाध्ये ने आगमिक साहित्य के संशोधित संपादन की ओर अधिकारियों का ध्यान खींचते हुए कहा है कि—

“It is high time now for the Jaina Community and the orientalist to collaborate in order to bring forth a standard edition of the entire Ardhamagadhi canon with the available Nijjuttis and Curnis on a uniform plan. It would be a solid foundation for all further studies. Pischel did think of a Jaina Text Society at the beginning of this century, in 1914, on the eve of his departure from India, Jacobi announced that an edition of the Siddhanta, the text of which can lay a claim to finality, would only be possible by using the old palm-leaf Mss. from the Patan Bhandaras, and only four years back Dr. Schubring also stressed this very point.”

निःसंदेह आगमिक साहित्य के प्रकाशन के वास्ते भिन्न-भिन्न स्थानों में अनेक वर्षों से आज तक अनेक प्रयत्न हुए हैं। वे प्रयत्न कई दृष्टि से उपयोगी भी सिद्ध हुए हैं तो भी प्रो० जेकोबी और डॉ० शुब्रिंग ने जैसा कहा है वैसे ही संशोधित संपादन की दृष्टि से एक अखण्ड प्रयत्न की आवश्यकता आज तक बनी हुई है। डॉ० पिशल ने इस शताब्दी के प्रारंभ में ही सोचा था कि 'पालि टेक्स्ट सोसायटी' जैसी एक 'जैन टेक्स्ट सोसायटी' की आवश्यकता है। हम सभी प्राच्यविद्या के अभ्यासी और संशोधन में रस लेनेवाले भी अनेक वर्षों से ऐसे ही आगमिक साहित्य तथा इतर जैन साहित्य के संशोधित संस्करण के निमित्त होने वाले सुसंवादी प्रयत्न का मनोरथ कर रहे थे। हर्ष की बात है कि पिशल आदि की सूचना और हमलोगों का मनोरथ अब सिद्ध होने जा रहा है। इस दिशा में भगीरथ प्रयत्न करने वाले वे ही मुनि श्री पुण्यविजयजी हैं जिनके विषय में डॉ० उपाध्ये ने दश वर्ष पहिले कहा था—

“He (late Muni Shri Chaturavijayaji) has left behind a worthy and well trained pupil in Shri Punyavijayaji who is silently carrying out the great traditions of learning of his worthy teacher.”

मैं मुनि श्री पुण्यविजयजी के निकट परिचय में ३६ वर्ष से सतत रहता आया हूँ। उन्होंने लिम्बड़ी, पाटन, बड़ौदा आदि अनेक स्थानों के अनेक भंडारों को सुव्यवस्थित किया है और सुरक्षित बनाया है। अनेक विद्वानों के लिए संपादन-संशोधन में उपयोगी हस्तलिखित प्रतियों को सुलभ बनाया है। उन्होंने स्वयं अनेक महत्त्व के संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों का संपादन भी किया है। इतने लम्बे और पक्के अनुभव के बाद ई० स० १९४५ में 'जैन आगम संसद' की स्थापना करके वे अब जैनागमों के संशोधन में उपयोगी देश विदेश में प्राप्य समग्र सामग्री को जुटाने में लग गए हैं। मैं आशा करता हूँ कि उनके इस कार्य से जैनागमों की अन्तिम रूप में प्रामाणिक आवृत्ति हमें प्राप्त होगी। आगमों के संशोधन की दृष्टि से ही वे अब अपना विहारक्रम और कार्यक्रम बनाते हैं। इसी दृष्टि से वे पिछले वर्षों में बड़ौदा, खंभात, अहमदाबाद आदि स्थानों में रहे और वहाँ के भंडारों को यथासंभव सुव्यवस्थित करने के साथ ही आगमों के संशोधन में उपयोगी बहुत कुछ सामग्री एकत्र की है। पाटन, लिम्बड़ी, भावनगर आदि के भंडारों में जो कुछ है वह तो उनके पास संग्रहीत था ही। उसमें बड़ौदा आदि के भंडारों से जो मिला उससे पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई है। इतने से भी वे संतुष्ट न हुए और स्वयं जैसलमेर के भंडारों का निरीक्षण करने के लिए अपने दलबल के साथ

ई० १९५० के प्रारंभ में पहुँच गए। जैसलमेर में जाकर शास्त्रोद्धार और भंडारों का उद्धार करने के लिए उन्होंने जो किया है उसका वर्णन यहाँ करना संभव नहीं। मैंने अपने व्याख्यान के अंत में उसे परिशिष्ट रूप से जोड़ दिया है।

उस सामग्री का महत्व अनेक दृष्टि से है। 'विशेषावश्यक भाष्य', 'कुक्लयमाला', 'ओषनिर्मुक्ति वृत्ति' आदि अनेक ताड़पत्रीय और कागजी ग्रन्थ ६०० वर्ष तक के पुराने और शुद्धप्रायः हैं। इसमें जैन परंपरा के उपरान्त बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा की भी अनेक महत्त्वपूर्ण पोथियाँ हैं। जिनका विषय काव्य, नाटक, अलंकार, दर्शन आदि है। जैसे—'खरखडन-खरखड-खाद्यशिष्यहितैषिणी वृत्ति'—टिप्पण्यादि से युक्त, 'न्यायमंजरी-ग्रन्थिभंग', 'भाष्यवार्तिक-विवरण', पंजिकासह 'तत्त्वसंग्रह' इत्यादि। कुछ ग्रंथ तो ऐसे हैं जो अपूर्व हैं—जैसे 'न्यायटिप्पणक'—श्रीकंठीय, 'कल्पलताविवेक (कल्पपल्लवशेष), बौद्धाचार्यकृत 'धर्मोत्तरीय टिप्पण' आदि।

सोल्ह मास जितने कम समय में मुनि श्री ने रात और दिन, गरमी और सरदी का जरा भी ख्याल बिना किए जैसलमेर दुर्ग के दुर्गम स्थान के भंडार के अनेकांगी जीर्णोद्धार के विशालतम कार्य के वास्ते जो उग्र तपस्या की है उसे दूर बैठे शायद ही कोई पूरे तौर से समझ सके। जैसलमेर के निवास दरमियान मुनि श्री के काम को देखने तथा अपनी अपनी अभिप्रेत साहित्यिक कृतिओं की प्रति के निमित्त इस देश के अनेक विद्वान् तो वहाँ गए ही पर विदेशी विद्वान् भी वहाँ गए। हेम्बर्ग यूनिवर्सिटी के प्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद डॉ० आल्सडोर्फ भी उनके कार्य से आकृष्ट होकर वहाँ गए और उन्होंने वहाँ की प्राच्य वस्तु व प्राच्य साहित्य के सैकड़ों फोटो भी लिए।

मुनि श्री के इस कार्य में उनके चिरकालीन अनेक साथियों और कर्मचारियों ने जिस प्रेम व निरीहता से सतत कार्य किया है और जैन संघ ने जिस उदारता से इस कार्य में यथेष्ट सहायता की है वह सराहनीय होने के साथ साथ मुनि श्री की साधुता, सहृदयता व शक्ति का द्योतक है।

मुनि श्री पुण्यविजय जी का अभी तक का काम न केवल जैन परंपरा से संबन्ध रखता है और न केवल भारतीय संस्कृति से ही संबन्ध रखता है, बल्कि मानव संस्कृति की दृष्टि से भी वह उपयोगी है। जब मैं यह सोचता हूँ कि उनका यह कार्य अनेक संशोधक विद्वानों के लिए अनेकमुखी सामग्री प्रस्तुत करता है और अनेक विद्वानों के श्रम को बचाता है तब उनके प्रति कृतज्ञता से हृदय भर आता है।

संशोधनरसिक विद्वानों के लिए स्फूर्तिदायक एक अन्य प्रवृत्ति का उल्लेख

भी मैं यहाँ उचित समझता हूँ। आचार्य मल्लवादी ने विक्रम छठी शताब्दी में 'नयचक्र' ग्रन्थ लिखा है। उसके मूल की कोई प्रति लब्ध नहीं है। सिर्फ उसकी सिंहगणि-क्षमाश्रमण कृत टीका की प्रति उपलब्ध होती है। टीका की भी जितनी प्रतियाँ उपलब्ध हैं वे प्रायः अशुद्ध ही मिली हैं। इस प्रकार मूल और टीका दोनों का उद्धार अपेक्षित है। उक्त टीका में वैदिक, बौद्ध और जैन ग्रन्थों के अवतरण विपुल मात्रा में हैं। किन्तु उनमें से बहुत ग्रन्थ अप्राप्य हैं। सद्भाग्य से बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती और चीनी भाषान्तर उपलब्ध है। जब तक इन भाषान्तरों की सहायता न ली जाए तब तक यह ग्रन्थ शुद्ध हो ही नहीं सकता, यह उस ग्रन्थ के बड़ौदा गायकवाड़ सिरीज से प्रकाशित होनेवाले और श्री लब्धिसुरि ग्रन्थ माला से प्रकाशित हुए संस्करणों के अवलोकन से स्पष्ट हो गया है। इस वस्तुस्थिति का विचार करके मुनि श्री जम्बूविजय जी ने इसी ग्रन्थ के उद्धार निमित्त तिब्बती भाषा सीखी है और उक्त ग्रन्थ में उपयुक्त बौद्ध ग्रन्थों के मूल अवतरण खोज निकालने का कार्य प्रारम्भ किया है। मेरी राय में प्रामाणिक संशोधन की दृष्टि से मुनि श्री जम्बूविजय जी का कार्य विशेष मूल्य रखता है। आशा है वह ग्रन्थ थोड़े ही समय में अनेक नए ज्ञातव्य तथ्यों के साथ प्रकाश में आएगा।

उल्लेख योग्य प्रकाशन कार्य—

पिछले वर्षों में जो उपयोगी साहित्य प्रकाशित हुआ है किन्तु जिनका निर्देश इस विभागीय प्रमुख के द्वारा नहीं हुआ है, तथा जो पुस्तकें अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं पर शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली हैं उन सबका नहीं परन्तु उनमें से चुनी हुई पुस्तकों का नामनिर्देश अन्त में मैंने परिशिष्ट में ही करना उचित समझा है। यहाँ तो मैं उनमें से कुछ ग्रन्थों के बारे में अपना विचार प्रकट करूँगा।

जीधराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर द्वारा प्रकाशित दो ग्रंथ खास महत्त्व के हैं। पहला है 'यशस्तिलक एण्ड इन्डियन् कल्चर्'। इसके लेखक हैं प्रोफेसर के० के० हाण्डीकी। श्री हाण्डीकी ने ऐसे संस्कृत ग्रन्थों का किस प्रकार अध्ययन किया जा सकता है उसका एक रास्ता बताया है। यशस्तिलक के आवार पर तत्कालीन भारतीय संस्कृति के सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि पहलुओं से संस्कृति का चित्र खींचा है। लेखक का यह कार्य बहुत समय तक बहुतों को नई प्रेरणा देने वाला है। दूसरा ग्रन्थ है 'तिलोपपरणति' द्वितीय भाग। इसके संपादक हैं ख्यातनामा प्रो० हीरालाल जैन और प्रो० ए. एन.

उपाध्ये। दोनों संपादकों ने हिन्दी और अंग्रेजी प्रस्तावना में मूलसम्बद्ध अनेक शातव्य विषयों की सुविशद चर्चा की है।

भारतीय ज्ञानपीठ, काराी, अपने कई प्रकाशनों से सुविदित है। मैं इसके नए प्रकाशनों के विषय में कहूँगा। पहला है 'न्यायविनिश्चय विवरण' प्रथम भाग। इसके संपादक हैं प्रसिद्ध पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य। अकलंक के मूल और वादिराज के विवरण की अन्य दर्शनों के साथ तुलना करके संपादक ने ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ा दिया है। ग्रन्थ की प्रस्तावना में संपादक ने स्याद्वाद-संबन्धी विद्वानों के भ्रमों का निरसन करने का प्रयत्न किया है। उन्हीं का दूसरा संपादन है तत्त्वार्थ की 'श्रुतसागरी टीका'। उसकी प्रस्तावना में अनेक शातव्य विषयों की चर्चा सुविशद रूप से की गई है। खास कर 'लोक वर्णन और भूगोल' संबन्धी भाग बड़े महत्त्व का है। उसमें उन्होंने जैन, बौद्ध, वैदिक परंपरा के मन्तव्यों की तुलना की है। ज्ञानपीठ का तीसरा प्रकाशन है—'समयसार' का अंग्रेजी अनुवाद। इसके संपादक हैं वयोवृद्ध विद्वान् प्रो० ए० चक्रवर्ती। इस ग्रन्थ की भूमिका जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण विषयों से परिपूर्ण है। पर उन्होंने शंकराचार्य पर कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र के प्रभाव की जो संभावना की है वह चिन्त्य है।" इसके अलावा 'महापुराण' का नया संस्करण हिन्दी अनुवाद के साथ भी प्रकाशित हुआ है। अनुवादक हैं श्री पं० पन्नालाल, साहित्याचार्य। संस्कृत-प्राकृत छन्दःशास्त्र के सुविद्वान् प्रो० एच० डी० वेलणकर ने सभाष्य 'रत्नमंजूषा' का संपादन किया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने टिप्पण भी लिखा है।

आचार्य श्री मुनि जिनविजय जी के मुख्य संपादकत्व में प्रकाशित होने वाली 'सिंधी जैन ग्रन्थ माला' से शायद ही कोई विद्वान् अपरिचित हो। पिछले वर्षों में जो पुस्तकें प्रसिद्ध हुई हैं उनमें से कुछ का परिचय देना आवश्यक है। 'न्यायावतार वार्तिक-वृत्ति' यह जैन न्याय विषयक ग्रन्थ है। इसमें मूल कारिकाएँ सिद्धसेन कृत हैं। उनके ऊपर पद्यबद्ध वार्तिक और उसकी गद्य वृत्ति शान्त्याचार्य कृत हैं। इसका संपादन पं० दत्तसुख मालवणिया ने किया है। संपादक ने जो विस्तृत भूमिका लिखी है उसमें आगम काल से लेकर एक हजार वर्ष तक के जैन दर्शन के प्रमाण, प्रमेय विषयक चिन्तन का ऐतिहासिक व तुलनात्मक निरूपण है। ग्रन्थ के अन्त में संपादक ने अनेक विषयों पर टिप्पण लिखे हैं जो भारतीय दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिए शातव्य हैं।

१. देखो, प्रो० विमलदास कृत समालोचना; ज्ञानोदय—सितम्बर १९५१।

प्रो० दामोदर धर्मानन्द कोसंबी संपादित 'शतकत्रयादि', प्रो० अमृतलाल गोपाणी संपादित 'भद्रबाहु संहिता', आचार्य जिनविजयजी संपादित 'कथाकोष-प्रकरण', मुनि श्री पुण्यविजय जी संपादित 'धर्मान्धुदय महाकाव्य' इन चार ग्रन्थों के प्रास्ताविक व परिचय में साहित्य, इतिहास तथा संशोधन में रस लेने वालों के लिए बहुत कीमती सामग्री है।

'षट्खण्डागम' की 'धवला' टीका के नव भाग प्रसिद्ध हो गए हैं। यह अच्छी प्रगति है। किन्तु 'जयधवला' टीका के अभी तक दो ही भाग प्रकाशित हुए हैं। आशा की जाती है कि ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन में शीघ्रता होगी। भारतीय ज्ञानपीठ ने 'महाबंध' का एक भाग प्रकाशित किया किन्तु इसकी भी प्रगति रुकी हुई है। यह भी शीघ्रता से प्रकाशित होना जरूरी है।

'यशोविजय जैनग्रंथ माला' पहले काशी से प्रकाशित होती थी। उसका पुनर्जन्म भावनगर में स्व० मुनि श्री जयन्तविजय जी के सहकार से हुआ है। उस ग्रंथमाला में स्व० मुनि श्री जयन्तविजय जी के कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनका निर्देश करना आवश्यक है। 'तीर्थराज आबु' यह 'आबु' नाम से प्रथम प्रकाशित पुस्तक का तृतीय संस्करण है। इसमें ८० चित्र हैं। और संपूर्ण आबु का पूरा परिचय है। इस पुस्तक की यह भी एक विशेषता है कि आबु के प्रसिद्ध मंदिर विमल वसही और लूण्णिवसही में उत्कीर्ण कथा-प्रसंगों का पहली बार यथार्थ परिचय कराया गया है। 'अर्बुदाचल प्राचीन जैन लेख संदोह' यह भी उक्त मुनि जी का ही संपादन है। इसमें आबु में प्राप्त समस्त जैन शिलालेख सानुवाद दिये गए हैं। इसके अलावा इसमें अनेक उपयोगी परिशिष्ट भी हैं। उन्हीं की एक अन्य पुस्तक 'अचलगढ़' है जिसकी द्वितीय आवृत्ति हाल में ही हुई है। उन्हीं का एक और ग्रन्थ 'अर्बुदाचल प्रदक्षिणा' भी प्रकाशित हुआ है। इसमें आबु पहाड़ के और उसके आसपास के ६७ गाँवों का वर्णन है, चित्र हैं और नक्शा भी दिया हुआ है। इसी का सहचारी एक और ग्रंथ भी मुनि जी ने 'अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह' नाम से संपादित किया है। इसमें प्रदक्षिणा गत गाँवों के शिलालेख सानुवाद हैं। ये सभी ग्रंथ ऐतिहासिकों के लिए अच्छी खोज की सामग्री उपस्थित करते हैं।

बीरसेवा मंदिर, सरसावा के प्रकाशनों में से 'पुगतन जैन वाक्य सूची' प्रथम उल्लेख योग्य है। इसके संग्राहक-संपादक हैं वयोवृद्ध कर्मठ पंडित श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार। इसमें मुख्तार जी ने दिगम्बर प्राचीन प्राकृत ग्रंथों की कारिकाओं की अकारादिक्रम से सूची दी है। संशोधक विद्वानों के लिए बहुमूल्य पुस्तक है। उन्हीं मुख्तार जी ने 'त्वयंभुस्तोत्र' और 'युक्त्यनुशासन' का भी अनु-

वाद प्रकाशित किया है। संस्कृत नहीं जाननेवालों के लिए श्री मुस्तार जी ने यह अच्छा संस्करण उपस्थित किया है। इसी प्रकार मंदिर की ओर से पं० श्री दरबारी लाल कोटिया कृत 'आसपरीक्षा' का हिन्दी अनुवाद भी प्रसिद्ध हुआ है। वह भी जिज्ञासुओं के लिए अच्छी सामग्री उपस्थित करता है।

'श्री दिगम्बर जैन क्षेत्र श्री महावीर जी' यह एक तीर्थ रत्नक संस्था है किन्तु उसके संचालकों के उत्साह के कारण उसने जैन साहित्य के प्रकाशन के कार्य में भी रस लिया है और दूसरी वैसी संस्थाओं के लिए भी वह प्रेरणादायी सिद्ध हुई है। उस संस्था की ओर से प्रसिद्ध आमरे (जयपुर) भंडार की सूची प्रकाशित हुई है। और 'प्रशस्तिसंग्रह' नाम से उन हस्तलिखित प्रतियों के अंत में दी गई प्रशस्तिओं का संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। उक्त सूची से प्रतीत होता है कि कई अपभ्रंश ग्रन्थ अभी प्रकाशन की राह देख रहे हैं। उसी संस्था की ओर से जैनधर्म के जिज्ञासुओं के लिए छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। 'सर्वार्थ सिद्धि' नामक 'तत्त्वार्थसूत्र' की व्याख्या का संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित हुआ है।

माणिकचन्द्र दि० जैन-ग्रन्थ माला, बंबई की ओर से कवि हस्तिमल्ल के शेष दो नाटक 'अंजना-पवनंजय नाटक and सुमद्रा नाटिका' के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। उनका संपादन प्रो० एम. वी. पटवर्धन ने एक विद्वान् को शोभा देने वाला किया है। ग्रन्थ की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि संपादक संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ पंडित हैं।

वीर शासन संघ, कलकत्ता की ओर से 'The Jaina Monuments and Places of First class Importance' यह ग्रन्थ श्री टी० एन्० रामचन्द्र द्वारा संगृहीत होकर प्रकाशित हुआ है। श्री रामचन्द्र इसी विषय के मर्मज्ञ पंडित हैं अतएव उन्होंने अपने विषय को सुचारुरूप से उपस्थित किया है। लेखक ने पूर्वबंगाल में जैनधर्म—इस विषय पर उक्त पुस्तक में जो लिखा है वह विशेषतया ध्यान देने योग्य है।

डॉ० महाइडले ने 'Historical Grammar of Inscriptional Prakrits' (पूना १९४८) में प्रमुख प्राकृत शिलालेखों की भाषा का अच्छा विश्लेषण किया है। और अभी अभी Dr. Bloch ने 'Les Inscriptions d' Asoka' (Paris 1950) में अशोक की शिलालेखों की भाषा का अच्छा विश्लेषण किया है।

भारतीय पुरातत्व के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० विमलाचरण लॉ ने कुछ जैन सूत्रों के विषय में लेख लिखे थे। उनका संग्रह 'सम् जैन केनोनिकल सूत्राज'

इस नाम से रॉयल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा की ओर से प्रसिद्ध हुआ है। जैन सूत्रों के अध्ययन की दिशा इन लेखों से प्राप्त होती है। लेखक ने इस पुस्तक में कई बातें ऐसी भी लिखी हैं जिनसे सहमत होना संभव नहीं।

प्रो० कापड़िया ने गुजराती भाषा में 'पाइय भाषाओ अने साहित्य' नामक एक छोटी सी पुस्तिका लिखी है। इसमें ज्ञातव्य सभी बातों के समावेश का प्रयत्न होने से पुस्तिका उपयोगी सिद्ध हुई है। किन्तु इसमें भी कई बातें ऐसी लिखी हैं जिनकी जाँच होना जरूरी है। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें बहुत सा ऐसा भी है जो उनके पुरोगामी लिख चुके हैं किन्तु प्रो० कापड़िया ने उनका निर्देश नहीं किया।

जैन मूर्तियों पर उत्कीर्ण लेखों का एक संग्रह 'जैन धातु प्रतिमा लेख' नाम से मुनि श्री कान्तिसागर जी के द्वारा संपादित होकर सूरत से प्रकाशित हुआ है। इसमें तेरहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के लेख हैं।

जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद भी एक पुरानी प्रकाशक संस्था है। यद्यपि इसके प्रकाशन केवल पुरानी शैली से ही होते रहते हैं तथापि उसके द्वारा प्रकाशित प्राचीन और नवनिर्मित अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन अभ्यासी के लिए उपेक्षणीय नहीं है।

जैन कलचरल रिसर्च सोसायटी, बनारस को स्थापित हुए सात वर्ष हुए हैं। उसने इतने अल्प काल में तथा अतिपरिमित साधनों की हालत में संशोधनात्मक दृष्टि से लिखी गई जो अनेक पत्रिकाएँ तथा कई पुस्तकें हिन्दी व अंग्रेजी में प्रसिद्ध की हैं एवं भिन्न-भिन्न विषय के उच्च उच्चतर अभ्यासियों को तैयार करने का प्रयत्न किया है वह आशास्पद है। डॉ० नथमल टाटिया का D. Litt. उपाधि का महानिबन्ध 'स्टडीज् इन जैन फिलॉसॉफी' छपकर तैयार है। इस निबन्ध में डॉ० टाटिया ने जैन दर्शन से सम्बद्ध तत्त्व, ज्ञान, कर्म, योग जैसे विषयों पर विवेचनात्मक व तुलनात्मक विशिष्ट प्रकाश डाला है। शायद अंग्रेजी में इस ढंग की यह पहली पुस्तक है।

आचार्य हेमचन्द्र कृत 'प्रमाण-मीमांसा' मूल और हिन्दी टिप्पणियों के साथ प्रथम सिंधी सिरीज में प्रकाशित हो चुकी है। पर उसका प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद न था। इस अभाव की पूर्ति डॉ० सातकोडी मुखर्जी और डॉ० नथमल टाटिया ने की है। 'प्रमाण-मीमांसा' के प्रस्तुत अनुवाद द्वारा जैन दर्शन व प्रमाण शास्त्र की परिभाषाओं के लिए अंग्रेजी समुचित रूपान्तर की सामग्री उपस्थित की गई है, जो अंग्रेजी द्वारा शिक्षा देने और पाने वालों की दृष्टि से बहुत उपकारक है।

प्रो० भोगीलाल सांडेसरा का Ph. D. का महानिबन्ध 'कन्ट्रीब्यूशन टु संस्कृत लिटरेचर ऑफ वस्तुपाल एण्ड हिज लिटरेरी सर्कल' प्रेस में है और शीघ्र ही सिंधी सिरीज़ से प्रकाशित होने वाला है। यह निबन्ध साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से जितना गवेषणापूर्ण है उतना ही महत्त्व का भी है।

प्रो० विलास आदिनाथ संघवे ने Ph. D. के लिए जो महानिबन्ध लिखा है उसका नाम है 'Jaina Community - A Social Survey'—इस महानिबन्ध में प्रो० संघवे ने पिछली जनगणनाओं के आधार पर जैन संघ की सामाजिक परिस्थिति का विवेचन किया है। साथ ही जैनों के सिद्धान्तों का भी संक्षेप में सुन्दर विवेचन किया है। यह ग्रन्थ 'जैन कल्चरल रिसर्च सोसाइटी' की ओर से प्रकाशित होगा। उसी सोसाइटी की ओर से डॉ० बागची की पुस्तक Jain Epistemology छप रही है।

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन Ph. D. की पुस्तक 'लाईफ़ इन इन्श्यन्ट इण्डिया एज़ डिफ़िनेटेड इन जैन केनन्स', बंबई की न्यू बुक कम्पनी ने प्रकाशित की है। न केवल जैन परम्परा के बल्कि भारतीय परम्परा के अभ्यासियों एवं संशोधकों के सम्मुख बहुत उपयोगी सामग्री उक्त पुस्तक में है। उन्हीं की एक हिन्दी पुस्तक 'भारत के प्राचीन जैन-तीर्थ' शीघ्र ही 'जैन कल्चरल रिसर्च सोसाइटी' से प्रकाशित हो रही है।

गुजरात विद्यासभा (भो० जे० विद्याभवन) अहमदाबाद की ओर से तीन पुस्तकें यथासमय शीघ्र प्रकाशित होने वाली हैं जिनमें से पहली है—'गणधरवाद'—गुजराती भाषान्तर। अनुवादक पं० दलसुख मालवणिया ने इसका मूल पाठ जैसलमेर स्थित सबसे अधिक पुरानी प्रति के आधार से तैयार किया है और भाषान्तर के साथ महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना भी जोड़ी है। 'जैन आगममां गुजरात' और 'उत्तराध्ययन' का पूर्वार्ध-अनुवाद, ये दो पुस्तकें डॉ० भोगीलाल सांडेसरा ने लिखी हैं। प्रथम में जैन आगमिक साहित्यिक में पाये जाने वाले गुजरात संबंधी उल्लेखों का संग्रह व निरूपण है और दूसरी में उत्तराध्ययन मूल की शुद्ध वाचना के साथ उसका प्रामाणिक भाषान्तर है।

श्री सारामाई नयाब, अहमदाबाद के द्वारा प्रकाशित निम्नलिखित पुस्तकें अनेक दृष्टियों से महत्त्व की हैं—'कालकाचार्य कथामंज्रह' संपादक पं० अंबालाल प्रेमचन्द्र शाह। इसमें प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक लिखी गई कालकाचार्य की कथाओं का संग्रह है और उनका सार भी दिया हुआ है। ऐतिहासिक गवेषकों के लिए यह पुस्तक महत्त्व की है। डॉ० मोतीचन्द्र की पुस्तक—'जैन मिनीयेचर पेइन्टिंज फ्रॉम वेस्टर्न इण्डिया' यह जैन हस्तलिखित प्रतों में चित्रित

चित्रों के विषय में अभ्यासपूर्ण है। उसी प्रकाशक की ओर से 'कल्पसूत्र' शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। इसका संपादन श्री मुनि पुण्यविजय जी ने किया है और गुजराती अनुवाद पं० बेचरदास जी ने।

मूलरूप में पुराना, पर इस युग में नए रूप से पुनरुज्जीवित एक साहित्य संरक्षक मार्ग का निर्देश करना उपयुक्त होगा। यह मार्ग है शिला व धातु के ऊपर साहित्य को उत्कीर्ण करके चिरजीवित रखने का। इसमें सबसे पहले पालीताना के आगममंदिर का निर्देश करना चाहिए। उसका निर्माण जैन साहित्य के उद्धारक, समस्त आगमों और आगमेतर सैकड़ों पुस्तकों के संपादक आचार्य सागरानन्द सूरि जी के प्रयत्न से हुआ है। उन्होंने ऐसा ही एक दूसरा मंदिर सूरत में बनवाया है। प्रथम में शिलाओं के ऊपर और दूसरे में ताम्रपटों के ऊपर प्राकृत जैन आगमों को उत्कीर्ण किया गया है। हम लोगों के दुर्भाग्य से ये साहित्यसेवी सूरि अब हमारे बीच नहीं हैं। ऐसा ही प्रयत्न षट्खंडागम की सुरक्षा का हो रहा है। वह भी ताम्रपट पर उत्कीर्ण हो रहा है। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक तरीके का उपयोग तो मुनि श्री पुण्य विजय जी ने ही किया है। उन्होंने जैसलमेर के भंडार की कई प्रतियों का सुरक्षा और सर्व सुलभ करने की दृष्टि से माइक्रोफिल्मिंग कराया है।

संशोधकों व ऐतिहासिकों का ध्यान खींचने वाली एक नई संस्था का अभी प्रारंभ हुआ है। राजस्थान सरकार ने मुनि श्री जिन विजय जी की अध्यक्षता में 'राजस्थान पुरातत्व मंदिर' की स्थापना की है। राजस्थान में सांस्कृतिक व ऐतिहासिक अनेकविध सामग्री बिखरी पड़ी है। इस संस्था द्वारा वह सामग्री प्रकाश में आएगी तो संशोधन क्षेत्र का बड़ा उपकार होगा।

प्रो० एच० डी० बेलणकर ने हरितोषमाला नामक ग्रन्थमाला में 'जय-दामन' नाम से छन्दःशास्त्र के चार प्राचीन ग्रन्थ संपादित किये हैं। 'जयदेव छन्दस्', जयकीर्ति कृत 'छन्दोनुशासन', केदार का 'वृत्तरत्नाकर', और आ० हेमचन्द्र का 'छन्दोनुशासन' इन चार ग्रन्थों का उसमें समावेश हुआ है।

'Studien zum Mahanisiha' नाम से हेमचर्ग से अभी एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें महानिशीथ नामक जैन छेदग्रन्थ के छठे से आठवें अध्ययन तक का विशेषरूप से अध्ययन Frank Richard Hamn और डॉ० शुब्रिग ने करके अपने अध्ययन का जो परिणाम हुआ उसे लिपिबद्ध कर दिया है।

जैन दर्शन—

जैन दर्शन से संबंध रखने वाले कुछ ही मुद्दों पर संक्षेप में विचार करना यहाँ इष्ट है। निश्चय और व्यवहार नय जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं, विद्वान् लोग जानते हैं कि इसी नय विभाग की आधारभूत दृष्टि का स्वीकार इतर दर्शनों में भी है। बौद्ध दर्शन बहुत पुराने समय से परमार्थ और संवृति इन दो दृष्टियों से निरूपण करता आया है।^१ शांकर वेदान्त की पारमार्थिक तथा व्यावहारिक या मायिक दृष्टि प्रसिद्ध है। इस तरह जैन-जैनेतर दर्शनों में परमार्थ या निश्चय और संवृति या व्यवहार दृष्टि का स्वीकार तो है, पर उन दर्शनों में उक्त दोनों दृष्टियों से किया जाने वाला तत्त्वनिरूपण विलकुल जुदा-जुदा है। यद्यपि जैनेतर सभी दर्शनों में निश्चय दृष्टि सम्मत तत्त्व-निरूपण एक नहीं है, तथापि सभी मोक्षलक्ष्मी दर्शनों में निश्चय दृष्टि सम्मत आचार व चारित्र्य एक ही है, भले ही परिभाषा वर्गीकरण आदि भिन्न हों।^२ यहाँ तो यह दिखाना है कि जैन परम्परा में जो निश्चय और व्यवहार रूप से दो दृष्टियाँ मानी गई हैं वे तत्त्वज्ञान और आचार दोनों क्षेत्रों में लागू की गई हैं। इतर सभी भारतीय दर्शनों की तरह जैनदर्शन में भी तत्त्वज्ञान और आचार दोनों का समावेश है। जब निश्चय-व्यवहार नय का प्रयोग तत्त्वज्ञान और आचार दोनों में होता है तब, सामान्य रूप से शास्त्र चिन्तन करने वाला यह अन्तर जान नहीं पाता कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में किया जाने वाला निश्चय और व्यवहार का प्रयोग आचार के क्षेत्र में किये जाने वाले वैसे प्रयोग से भिन्न है और भिन्न परिणाम का सूचक भी है। तत्त्वज्ञान की निश्चय दृष्टि और आचार विषयक निश्चय दृष्टि ये दोनों एक नहीं। इसी तरह उभय विषयक व्यवहार दृष्टि के बारे में भी समझना चाहिए। इसका स्पष्टीकरण यों है—

जब निश्चय दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप प्रतिपादन करना हो तो उसकी सीमा में केवल यही बात आनी चाहिए कि जगत के मूल तत्त्व क्या हैं? कितने हैं? और उनका क्षेत्र-काल आदि निरपेक्ष स्वरूप क्या है? और जब व्यवहार दृष्टि से तत्त्व निरूपण इष्ट हो तब उन्हीं मूल तत्त्वों का द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि से सापेक्ष स्वरूप प्रतिपादित किया जाता है। इस तरह हम निश्चय दृष्टि का उपयोग करके जैन दर्शन सम्मत तत्त्वों का स्वरूप कहना चाहें तो संक्षेप में यह कह सकते हैं कि चेतन अचेतन ऐसे परस्पर अत्यन्त विजातीय दो तत्त्व हैं। दोनों

१. कथावत्यु, माध्यमक कारिका आदि।

२. चतुःसत्य, चतुर्व्यूह, व आस्तब-बंधादि चतुष्क।

एक दूसरे पर असर डालने की शक्ति भी धारण करते हैं। चेतन का संकोच विस्तार यह द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि सापेक्ष होने से व्यवहारदृष्टिसिद्ध है। अचेतन पुद्गल का परमाणुरूपत्व या एक प्रदेशावगाह्यत्व यह निश्चयदृष्टि का विषय है, जब कि उसका स्कन्धपरिणमन या अपने क्षेत्र में अन्य अनन्त परमाणु और स्कन्धों को अवकाश देना यह व्यवहारदृष्टि का निरूपण है। परन्तु आचारलक्ष्मी निश्चय और व्यवहार दृष्टि का निरूपण जुदे प्रकार से होता है। जैनदर्शन मोक्ष को परम पुरुषार्थ मानकर उसी की दृष्टि से आचार की व्यवस्था करता है। अतएव जो आचार सीधे तौर से मोक्षलक्ष्मी है वही नैश्चयिक आचार है इस आचार में दृष्टिभ्रम और काषायिक वृत्तियों के निर्मूलीकरण मात्र का समावेश होता है। पर व्यावहारिक आचार ऐसा एकरूप नहीं। नैश्चयिक आचार की भूमिका से निष्पन्न ऐसे भिन्न-भिन्न देश काल-जाति-स्वभाव-रुचि आदि के अनुसार कभी-कभी परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले भी आचार व्यावहारिक आचार कोटि में गिने जाते हैं। नैश्चयिक आचार की भूमिका पर वर्तमान एक ही व्यक्ति अनेकविध व्यावहारिक आचारों में से गुजरता है। इस तरह हम देखते हैं कि आचारगामी नैश्चयिक दृष्टि या व्यावहारिक दृष्टि मुख्यतया मोक्ष पुरुषार्थ की दृष्टि से ही विचार करती है। जब कि तत्त्वनिरूपक निश्चय या व्यवहार दृष्टि केवल जगत के स्वरूप को लक्ष्य में रखकर ही प्रवृत्त होती है। तत्त्वज्ञान और आचार लक्ष्मी उक्त दोनों नयों में एक दूसरा भी महत्त्व का अन्तर है, जो ध्यान देने योग्य है।

नैश्चयिक दृष्टि सम्मत तत्त्वों का स्वरूप हम सभी साधारण जिज्ञासु कभी प्रत्यक्ष कर नहीं पाते। हम ऐसे किसी व्यक्ति के कथन पर श्रद्धा रखकर ही वैसा स्वरूप मानते हैं कि जिस व्यक्ति ने तत्त्वस्वरूप का साक्षात्कार किया हो। पर आचार के बारे में ऐसा नहीं है। कोई भी जागरूक साधक अपनी आन्तरिक सत्-असत् वृत्तियों को व उनकी तीव्रता-मन्दता के तारतम्य को सीधा अधिक प्रत्यक्ष जान सकता है। जब कि अन्य व्यक्ति के लिए पहले व्यक्ति की वृत्तियों सर्वथा परोक्ष हैं। नैश्चयिक हो या व्यावहारिक, तत्त्वज्ञान का स्वरूप उस-उस दर्शन के सभी अनुयायियों के लिए एक सा है तथा समान परिभाषाबद्ध है। पर नैश्चयिक व व्यावहारिक आचार का स्वरूप ऐसा नहीं। हरएक व्यक्ति का नैश्चयिक आचार उसके लिए प्रत्यक्ष है। इस अल्प विवेचन से मैं केवल इतना ही सूचित करना चाहता हूँ कि निश्चय और व्यवहार नय ये दो शब्द भले ही समान हों। पर तत्त्वज्ञान और आचार के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न अभिप्राय से लागू होते हैं, और हमें विभिन्न परिणामों पर पहुँचाते हैं।

निश्चयदृष्टि से जैन तत्त्वज्ञान की भूमिका औपनिषद् तत्त्वज्ञान से बिलकुल भिन्न है। प्राचीन माने जाने वाले सभी उपनिषद् सत्, असत्, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त, आकाश, आदि भिन्न-भिन्न नामों से जगत् के मूल का निरूपण करते हुए केवल एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जगत् जड़-चेतन आदि रूप में कैसा ही नानारूप क्यों न हो, पर उसके मूल में असत्ता तत्त्व तो केवल एक ही है। जब कि जैनदर्शन जगत् के मूल में किसी एक ही तत्त्व का स्वीकार नहीं करता, प्रत्युत परस्पर विजातीय ऐसे स्वतन्त्र दो तत्त्वों का स्वीकार करके उसके आधार पर विश्व के वैश्वरूप्य की व्यवस्था करता है। चौबीस तत्त्व मानने वाले सांख्य दर्शन को और शांकर आदि वेदान्त शाखाओं को छोड़ कर—भारतीय दर्शनों में ऐसा कोई दर्शन नहीं जो जगत् के मूलरूप से केवल एक तत्त्व स्वीकार करता हो। न्याय-वैशेषिक हो या सांख्य-योग हो, या पूर्व मीमांसा हो सभ अपने-अपने ढंग से जगत् के मूल में अनेक तत्त्वों का स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि जैन तत्त्वचिन्तन की प्रकृति औपनिषद् तत्त्वचिन्तन की प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। ऐसा होते हुए भी जब डॉ० रानडे जैसे सूक्ष्म तत्त्वचिन्तक उपनिषदों में जैन तत्त्वचिन्तन का उद्गम दिखाते हैं तब विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि यह केवल उपनिषद् भक्ति की आत्यन्तिकता है।^१ इस तरह उन्होंने जो बौद्धदर्शन या न्याय-वैशेषिक दर्शन का संबन्ध उपनिषदों से जोड़ा है वह भी मेरी राय में भ्रान्त है। इस विषय में मेक्समूलर^२ और डॉ० ध्रुव आदि की दृष्टि जैसी स्पष्ट है वैसी बहुत कम भारतीय विद्वानों की होगी। डॉ० रानडे की अपेक्षा प्रो० हरियन्ना व डॉ० एस० एन० दासगुप्त का निरूपण मूल्यवान है। जान पड़ता है कि उन्होंने अन्यान्य दर्शनों के मूलग्रन्थों को विशेष सहानुभूति व गहराई से पढ़ा है।

अनेकान्तवाद^३

हम सभी जानते हैं कि बुद्ध अपने को विभज्यवादी^४ कहते हैं। जैन आगमों में महावीर को भी विभज्यवादी सूचित किया है।^५ विभज्यवाद का मतलब पृथक्करण पूर्वक सत्य-असत्य का निरूपण व सत्यों का यथावत् समन्वय करना

१. कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक् फिलॉसॉफी पृ० १७६

२. दि सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी

३. प्रमाणमीमांसा भाषाटिप्पण पृ० ६१

४. मज्झिमनिकाय सुत्त ६६

५. सूत्रकृतांग १. १४. २२.

है। विभज्यवाद के गर्भ में ही किसी भी एकान्त का परित्याग सूचित है। एक सन्धी वस्तु के दो छोर ही उसके दो अन्त हैं। अन्तों का स्थान निश्चित है। पर उन दो अन्तों के बीच का अन्तर या बीच का विस्तार—अन्तों की तरह स्थिर नहीं। अतएव दो अन्तों का परित्याग करके बीच के मार्ग पर चलने वाले सभी एक जैसे हो ही नहीं सकते यही कारण है कि विभज्यवादी होने पर भी बुद्ध और महावीर की दृष्टि में कई बातों में बहुत अन्तर रहा है। एक व्यक्ति अमुक विवक्षा से मध्यममार्ग या विभज्यवाद घटाता है तो दूसरा व्यक्ति अन्य विवक्षा से घटाता है। पर हमें ध्यान रखना चाहिए कि ऐसी भिन्नता होते हुए भी बौद्ध और जैनदर्शन की आत्मा तो विभज्यवाद ही है।

विभज्यवाद का ही दूसरा नाम अनेकान्त है, क्योंकि विभज्यवाद में एकान्त-दृष्टिकोण का त्याग है। बौद्ध परम्परा में विभज्यवाद के स्थान में मध्यम मार्ग शब्द विशेष रूढ़ है। हमने ऊपर देखा कि अन्तों का परित्याग करने पर भी अनेकान्त के अवलम्बन में भिन्न-भिन्न विचारकों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण सम्भव है। अतएव हम न्याय, सांख्य-योग और मीमांसक जैसे दर्शनों में भी विभज्यवाद तथा अनेकान्त शब्द के व्यवहार से निरूपण पाते हैं। अक्षपाद कृत 'न्यायसूत्र' के प्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन ने २-१-१५, १६ के भाष्य में जो निरूपण किया है वह अनेकान्त का स्पष्ट द्योतक है और 'यथा दर्शनं विभागवचनं' कहकर तो उन्होंने विभज्यवाद के भाव को ही ध्वनित किया है। हम सांख्यदर्शन की सारी तत्त्वचिन्तन प्रक्रिया को ध्यान से देखेंगे तो मालूम पड़ेगा कि वह अनेकान्त दृष्टि से निरूपित है। 'योगदर्शन' के ३-१३ सूत्र के भाष्य तथा तत्त्ववैशारदी विवरण को ध्यान से पढ़ने वाला सांख्य-योग दर्शन की अनेकान्त दृष्टि को यथावत् समझ सकता है। कुमारिल ने भी 'श्लोक वार्तिक' और अन्यत्र अपनी तत्त्व-व्यवस्था में अनेकान्तदृष्टि का उपयोग किया है, 'उपनिषदों के समान आचार पर केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि जो अनेक वाद स्थापित हुए हैं वे वस्तुतः अनेकान्त विचार सरणी के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। तत्त्वचिन्तन की बात छोड़कर हम मानवयूथों के जुड़े-जुड़े आचार व्यवहारों पर ध्यान देंगे तो भी उनमें अनेकान्त दृष्टि पावेंगे। वस्तुतः जीवन का स्वरूप ही ऐसा है कि जो एकान्तदृष्टि में पूरा प्रकट हो ही नहीं सकता। मानवीय व्यवहार भी ऐसा है कि जो अनेकान्त दृष्टि का अन्तिम अवलम्बन बिना लिखे निभ नहीं सकता। इस संक्षिप्त प्रतिपादन से केवल इतना ही सूचित करना है कि हम संशोधक अन्या-

१. श्लोक वार्तिक, आत्मवाद २६-३० आदि।

सियों को हर एक प्रकार की अनेकान्तदृष्टि को, उसके निरूपक की भूमिका पर रहकर ही समझने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने पर हम न केवल भारतीय संस्कृति के किन्तु मानवीय संस्कृति के हर एक वर्तुल में भी एक व्यापक समन्वय का सूत्र पायेंगे।

अनेकान्त दृष्टि में से ही नयवाद तथा सप्तभंगी विचार का जन्म हुआ है। अतएव मैं नयवाद तथा सप्तभंगी विचार के विषय में कुछ प्रकीर्ण विचार उपस्थित करता हूँ। नय सात माने जाते हैं। उनमें पहले चार अर्थनय और पिछले तीन शब्द नय हैं। महत्त्व के भिन्न-भिन्न दार्शनिक मन्तव्यों को उस-उस दर्शन के दृष्टिकोण की भूमिका पर ही नयवाद के द्वारा समझाने का तथा व्यवस्थित करने का तत्कालीन जैन आचार्यों का उद्देश्य रहा है। दार्शनिक विचारों के विकास के साथ ही जैन आचार्यों में संभवित अध्ययन के आधार पर नय विचार में भी उस विकास का समावेश किया है। यह बात इतिहास सिद्ध है। भगवान् महावीर के शुद्धिलक्ष्मी जीवन का तथा तत्कालीन शासन का विचार करने से जान पड़ता है कि नयवाद मूल में अर्थनय तक ही सीमित होगा। जब शासन के प्रचार के साथ-साथ व्याकरण, निरुक्त, निर्बट्ट, कोष जैसे शास्त्रान्तरों का अध्ययन बढ़ता गया तब विचक्षण आचार्यों ने नयवाद में शब्द-स्पर्शा विचारों को भी शब्दनय रूप से स्थान दिया। संभव है शुरू में शब्दनयों में एक शब्दनय ही रहा हो। इसकी पुष्टि में यह कहा जा सकता है कि नियुक्ति में नयों की पाँच संख्या का भी एक विकल्प है।^१ क्रमशः शब्द नय के तीन भेद हुए जिसके उदाहरण व्याकरण, निरुक्त, कोष आदि के शब्द प्रधान विचारों से ही लिये गए हैं।

प्राचीन समय में वेदान्त के स्थान में सांख्य-दर्शन ही प्रधान था इसी से आचार्यों ने संग्रह नय के उदाहरण रूप से सांख्यदर्शन को लिया है। पर शंकराचार्य के बाद ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा बढ़ी, तब जैन विद्वानों ने संग्रह नय के उदाहरण रूप से ब्रह्मवाद को ही लिया है। इसी तरह शुरू में ऋजुसूत्र का उदाहरण सामान्य बौद्ध दर्शन था। पर जब उपाध्याय यशोविजयजी जैसे ने देखा कि बौद्ध दर्शन के तो वैभाषिक आदि चार भेद हैं तब उन्होंने उन चारों शाखाओं का ऋजुसूत्र नय में समावेश किया।

इस चर्चा से सूचित यह होता है कि नयवाद मूल में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का संग्राहक है। अतएव उसकी संग्राहक सीमा अध्ययन व चिन्तन की वृद्धि के

१. आवश्यक नियुक्ति गा० ७५६

साथ ही बढ़ती रही है। ऐसी हालत में जैनदर्शन के अभ्यासी एवं संशोधकों का कर्तव्य हो जाता है कि वे आधुनिक विशाल ज्ञान सामग्री का उपयोग करें और नय विचार का क्षेत्र सर्वांगीण यथार्थ अध्ययन से विस्तृत करें, केवल एकदेशीयता से संतुष्ट न रहें।

‘नैगम’ शब्द की ‘नैक + गम,’ नैग (अनेक) + म तथा ‘निगमे भवः’ जैसी तीन व्युत्पत्तियाँ निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में पाई जाती हैं।^१ पर वस्तुस्थिति के साथ मिलान करने से जान पड़ता है कि तीसरी व्युत्पत्ति ही विशेष ग्राह्य है, उसके अनुसार अर्थ होता है कि जो विचार या व्यवहार निगम में—व्यापार व्यवसाय करनेवाले महाजनों के स्थान में होता है वह नैगम।^२ जैसे महाजनों के व्यवहार में भिन्न-भिन्न मतों का समावेश होता है, वैसे ही इस नय में भिन्न-भिन्न तात्त्विक मन्तव्यों का समावेश विवक्षित है। पहली दो व्युत्पत्तियाँ वैसी ही कल्पना प्रसूत हैं, जैसी कि ‘इन्द्र’ की ‘इं द्रातीति इन्द्रः’ यह माटरवृत्ति गत व्युत्पत्ति है।

सप्तभंगी गत सात भंगों में शुरु के चार ही महत्त्व के हैं क्योंकि वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में तथा ‘दीर्घनिकाय’ के ब्रह्मजाल सूत्र में ऐसे चार विकल्प छूटे-छूटे रूप में या एक साथ निर्दिष्ट पाये जाते हैं। सात भंगों में जो पिछले तीन भंग हैं उनका निर्देश किसी के पदरूप में कहीं देखने में नहीं आया। इससे शुरु के चार भंग ही अपनी ऐतिहासिक भूमिका रखते हैं ऐसा फलित होता है।

शुरु के चार भंगों में एक ‘अवक्तव्य’ नाम का भंग भी है। उसके अर्थ के बारे में कुछ विचारणीय बात है। आगम युग के प्रारम्भ से अवक्तव्य भंग का अर्थ ऐसा किया जाता है कि सत् असत् या नित्य-अनित्य आदि दो अंशों को एक साथ प्रतिपादन करनेवाला कोई शब्द ही नहीं, अतएव ऐसे प्रतिपादन की विवक्षा होने पर वस्तु अवक्तव्य है। परन्तु अवक्तव्य शब्द के इतिहास को देखते हुए कहना पड़ता है कि उसकी दूसरी व ऐतिहासिक व्याख्या पुराने शास्त्रों में है।

उपनिषदों में ‘यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह’^३ इस उक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप को अनिर्वचनीय अथवा वचनानागोचर सूचित किया है। इसी

१. आवश्यक निर्युक्ति गा०७५५; तत्त्वार्थभाष्य १.३५; स्थानांगटीका स्था० ७

२. भगवती शतक १. उद्देशा १०

३. तैत्तिरीय उपनिषद् २.४.।

तरह 'आचारांग' में भी 'सव्वे सरा निअट्टंति, तत्थ भुणी न विज्जइ'^१ आदि द्वारा आत्मा के स्वरूप को वचनागोचर कहा है। बुद्ध ने भी अनेक वस्तुओं को अव्याकृत^२ शब्द के द्वारा वचनागोचर ही सूचित किया है।

जैन परम्परा में तो अनभिलाष्य^३ भाव प्रसिद्ध हैं जो कभी वचनागोचर नहीं होते। मैं समझता हूँ कि सप्तभंगी में अवक्तव्य का जो अर्थ लिया जाता है वह पुरानी व्याख्या का वादाश्रित व तर्कगम्य दूसरा रूप है।

सप्तभंगी के विचार प्रसंग में एक बात का निर्देश करना जरूरी है। श्रीशंकराचार्य के 'ब्रह्मसूत्र' २-२-३३ के भाष्य में सप्तभंगी को संशयात्मक ज्ञान रूप से निर्दिष्ट किया है। श्रीरामनुजाचार्य ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। यह हुई पुराने खण्डन मण्डन प्रधान साम्प्रदायिक युग की बात। पर तुलनात्मक और व्यापक अध्ययन के आधार पर प्रवृत्त हुए नए युग के विद्वानों का विचार इस विषय में जानना चाहिए। डॉ० ए० बी० ध्रुव, जो भारतीय तथा पाश्चात्य तत्त्वज्ञान की सब शाखाओं के पारदर्शी विद्वान् रहे खास कर शांकर वेदान्त के विशेष पक्षपाती भी रहे—उन्होंने अपने 'जैन अने ब्राह्मण'^४ भाषण में स्पष्ट कहा है कि सप्तभंगी यह कोई संशयज्ञान नहीं है। वह तो सत्य के नाना-विध स्वरूपों की निदर्शक एक विचारसरणी है। श्रीनर्मदाशंकर मेहता, जो भारतीय समग्र तत्त्वज्ञान की परम्पराओं और खासकर वेद-वेदान्त की परम्परा के असाधारण मौलिक विद्वान थे; और जिन्होंने 'हिन्द तत्त्वज्ञान नो इतिहास'^५ आदि अनेक अभ्यासपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं, उन्होंने भी सप्तभंगी का निरूपण बिलकुल असाम्प्रदायिक दृष्टि से किया है, जो पठनीय है। सर राधाकृष्णन, डॉ० दासगुप्त आदि^६ तत्त्व चिन्तकों ने भी सप्तभंगी का निरूपण जैन दृष्टिकोण को बराबर समझ कर ही किया है। यह बात मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक अध्ययन का अन्तर ध्यान में आ जाय।

चारित्र के दो अंग हैं, जीवनगत आगन्तुक दोषों की दूर करना यह पहला,

१. आचारांग सू० १७०।

२. मज्झिमनिकायसुत्त ६३।

३. विशेषा० भा० १४१, ४८८।

४. आपणो धर्म पृ० ६७३।

५. पृ० २१३-२१६।

६. राधाकृष्णन—इण्डियन फिलॉसॉफी वॉल्यूम १, पृ० ३०२।

दासगुप्ता—ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी वॉल्यूम १, पृ० १७६।

और आत्मा की स्वाभाविक शक्तियों व सद्गुणों का उत्कर्ष करना यह दूसरा अंग है। दोनों अंगों के लिए किए जाने वाले सम्यक् पुरुषार्थ में ही वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की कृतार्थता है।

उक्त दोनों अंग परस्पर ऐसे सम्बन्ध हैं कि पहले के बिना दूसरा संभव ही नहीं, और दूसरे के बिना पहला ध्येयशून्य होने से शून्यवत् है।

इसी दृष्टि से महावीर जैसे अनुभवियों ने हिंसा आदि क्लेशों से विरत होने का उपदेश दिया व साधकों के लिए प्राणातिपातविरमण आदि व्रतों की योजना की, परन्तु स्थूलमति व अलस प्रकृति वाले लोगों ने उन निवृत्ति प्रधान व्रतों में ही चारित्र्य की पूर्णता मानकर उसके उत्तरार्ध या साध्यभूत दूसरे अंग की उपेक्षा की। इसका परिणाम अतीत की तरह वर्तमान काल में भी अनेक विकृतियों में नजर आता है। सामाजिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों में जीवन गतिशून्य व विसंवादी बन गया है। अतएव संशोधक विचारकों का कर्तव्य है कि विरतिप्रधान व्रतों का तात्पर्य लोगों के सामने रखें।

भगवान महावीर का तात्पर्य यही रहा है कि स्वाभाविक सद्गुणों के विकास की पहली शर्त यह है कि आगन्तुक मल्लों को दूर करना। इस शर्त की अनिवार्यता समझ कर ही सभी संतों ने पहले क्लेशनिवृत्ति पर ही भार दिया है। और वे अपने जीवन के उदाहरण से समझ गए हैं कि क्लेशनिवृत्ति के बाद वैयक्तिक तथा सामुदायिक जीवन में सद्गुणों की वृद्धि व पुष्टि का कैसे सम्यक् पुरुषार्थ करना।

तुरन्त करने योग्य काम—

कई भाण्डारों की सूचियाँ व्यवस्थित बनी हैं, पर छपी नहीं हैं तो कई सूचियाँ छपी भी हैं। और कई भाण्डारों की बनी ही नहीं है, कई की हैं तो व्यवस्थित नहीं हैं। मेरी राय में एक महत्त्व का काम यह है कि एक ऐसी महासूची तैयार करनी चाहिए, जिसमें प्रो० बेल्लणकर की जिनरत्नकोष नामक सूची के समावेश के साथ सब भाण्डारों की सूचियाँ आ जाएँ। जो न बनी हों तैयार कराई जाएँ, अव्यवस्थित व्यवस्थित कराई जाएँ। ऐसी एक महासूची होने से देशविदेश में वर्तमान यावत् जैन साहित्य की जानकारी किसी भी जिज्ञासु को घर बैठे सुकर हो सकेगी और काम में सरलता भी होगी। मद्रास में श्री राघवन संस्कृत ग्रन्थों की ऐसी ही सूची तैयार कर रहे हैं। बर्लिन में ग्युस्किण्ट की एक बड़ी विस्तृत सूची अभी ही प्रसिद्ध हुई है। ऐसी ही वस्तुस्थिति अन्य पुरातत्त्वोप सामग्री के विषय में भी है। उसका भी संकलन एक सूची द्वारा जरूरी है।

अपभ्रंश भाषा के साहित्य के विशेष प्रकाशनों की आवश्यकता पर पहले के प्रमुखों ने कहा है, परन्तु उसके उच्चतर अध्ययन का विशिष्ट प्रबन्ध होना अत्यन्त जरूरी है। इसके सिवाय गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, मराठी, बंगाली आदि भाषाओं के कड़ीबंध इतिहास लेखन का कार्य संभव ही नहीं। इसी तरह उच्च शिक्षा के लिए प्रांतीय भाषाओं को माध्यम बनाने का जो विचार चारों ओर विकसित हो रहा है, उसकी पूरी सफलता तभी संभव है जब उक्त भाषाओं की शब्द समृद्धि व विविध अर्थों को बहन करने की क्षमता बढ़ाई जाय। इस कार्य में अपभ्रंश भाषाओं का अध्ययन अनिवार्य रूप से अपेक्षित है।

प्राकृत विशेष नामों के कोष की उपयोगिता तथा जैन पारिभाषिक शब्द कोष की उपयोगिता के बारे में अतः पूर्व कहा गया है। मैं इस विषय में अधिक चर्चा न करके एक ऐसा सूचन करता हूँ जो मेरी राय में आज की स्थिति में सबसे प्रथम कर्तव्य है और जिसके द्वारा नए युग की माँग को हम लोग विशेष सरलता व एक सुचारु पद्धति से पूरा कर सकेंगे। वह सूचन यह है—

नवयुगीन साहित्यिक मर्यादाओं को समझने वालों की तथा उनमें रस लेने वालों की संख्या अनेक प्रकार से बढ़ रही है। नव शिक्षा प्राप्त अध्यापक विद्यार्थी आदि तो मिलते ही हैं, पर पुराने दंग से बढ़े हुए पण्डितों व ब्रह्मचारी एवं भिक्षुओं की काफी तादाद भी इस नए युग का बल जानने लगी है। व्यवसायी पर विद्याप्रिय धनवानों का ध्यान भी इस ओर गया है। जुदे-जुदे जैन फिरकों में ऐसी छोटी बड़ी संस्थाएँ भी चल रही हैं तथा निकलती जा रही हैं जो नए युग की साहित्यिक आवश्यकता को थोड़ा बहुत पहचानती हैं और योग्य मार्गदर्शन मिलाने पर विशेष विकास करने की उदारवृत्ति भी धारण करती हैं।

यह सब सामग्री मामूली नहीं है, फिर भी हम जो काम जितनी त्वरा से और जितनी पूर्णता से करना चाहते हैं वह हो नहीं पाता। कारण एक ही है कि उक्त सब सामग्री खिलरी हुई कड़ियों की तरह एकसूत्रता विहीन है।

हम सब जानते हैं कि पार्श्वनाथ और महावीर के तीर्थ का जो और जैसा कुल्लु अस्तित्व शेष है उसका कारण केवल संघ रचना व संघ व्यवस्था है। यह वस्तु हमें हजारों वर्ष से अनायास विरासत में मिली है, गाँव-गाँव, शहर-शहर में जहाँ भी जैन हैं, अपने उनका दंग का संघ है।

हर एक फिरके के साधु-जति-भट्टारकों का भी संघ है। उस उस फिरके के तीर्थ-मन्दिर-धर्मस्थान भण्डार आदि विशेष हितों की रक्षा तथा वृद्धि करने वाली कमेटियों—पेड़ियों व कान्फरेन्सों तथा परिषदों भी हैं। यह सब संघशक्ति का ही निदर्शन है। जब इतनी बड़ी संघ शक्ति है तब क्या कारण

है कि हम मन चाहे सर्वसम्मत साहित्यिक काम को हाथ में लेने से हिचकिचाते हैं ?

मुझको लगता है कि हमारी चिरकालीन संघशक्ति इसलिए कार्यक्षम साबित नहीं होती कि उसमें नव दृष्टि का प्राणस्पन्दन नहीं है। अतएव हमें एक ऐसे संघ की स्थापना करनी चाहिए कि जिसमें जैन जैनेतर, देशी विदेशी गृहस्थ त्यागी पण्डित अध्यापक आदि सब आकृष्ट होकर सम्मिलित हो सकें और संघ द्वारा सोची गई आवश्यक साहित्यिक प्रवृत्तियों में अपने-अपने स्थान में रहकर भी अपनी अपनी योग्यता व रुचि के अनुसार भाग ले सकें, निःसंदेह इस नए संघ की नींव कोई साम्प्रदायिक या पान्थिक न होगी। केवल जैन परंपरा से सम्बद्ध सब प्रकार के साहित्य को नई जरूरतों के अनुसार तैयार व प्रकाशित करना और विखरे हुए योग्य अधिकारियों से विभाजन पूर्वक काम लेना एवं मौजूदा तथा नई स्थापित होने वाली साहित्यिक संस्थाओं को नयी दृष्टि का परिचय कराना इत्यादि इस संघ का काम रहेगा। जिसमें किसी का विसंवाद नहीं और जिसके बिना नए युग की माँग को हम कभी पूरा ही कर नहीं सकते।

पुरानी वस्तुओं की रक्षा करना इष्ट है, पर इसी को इतिश्री मान लेना भूल है। अतएव हमें नई एवं स्फूर्ति देने वाली आवश्यकताओं को लक्ष्य में रखकर ऐसे संघ की रचना करनी होगी। इसके विधान, पदाधिकारी, कार्य-विभाजन, आर्थिक बाजू आदि का विचार मैं यहाँ नहीं करता। इसके लिए हमें पुनः मिलना होगा।^१

ई० १९५१]



१ ओरिएण्टल कॉन्फ्रेंस के लन्दन अधिवेशन में 'प्राकृत और जैनधर्म' विभाग के अध्यक्षपद से दिया गया व्याख्यान। इसके अन्त में मुनिश्री पुरण-विजयजी द्वारा किये गए कार्य की रूपरेखा और नए प्रकाशनों की सूची है। उसे यहाँ नहीं दिया गया।